Toppersnotes®
Unleash the topper in you

1st – Grade

संस्कृत

स्कूल व्याख्याता

राजस्थान लोक सेवा आयोग (RPSC)

द्वितीय – प्रश्न पत्र

भाग – 2

SIERRA INNOVATIONS

1st Grade

CONTENTS

संस्कृत (भाग – 2)		
1.	गद्यकवि	1
2.	नलचम्पू का उद्भव एवं विकास	11
3.	महाकवि	16
4.	संस्कृत के प्रमुख कवि और उनकी रचनाएँ	42
5.	लघुसिद्धान्तकौमुदी (विभक्त्यर्थ–प्रकरणम्) कारक–प्रकरणम	44
6.	संस्कृत भाषा का उद्भव और विकास	52
7.	संस्कृत – साहित्य के इतिहास का साधारण ज्ञान	65
8.	वर्ण विचार	82
9.	भारतीय संस्कृत दर्शन के स्त्रोत	96
10.	संस्कृत काव्यशास्त्रकारों की सूची एवं परिचय	102
11.	खण्डकाव्य – मेघदूत	112
12.	गीतिकाव्य –ऋतुसंहार	120
13.	नाट्यसाहित्य	124
14.	संस्कृत साहित्य के अर्वाचीन कवि	129
मनोविज्ञान		
15.	नवीन विधियाँ/आधुनिक विधियाँ	134
16.	संस्कृत शिक्षण विधयः	144
17.	गद्यशिक्षणम	152
18.	व्याकरणशिक्षणम्	167

अध्याय – 1

गद्यकवि

बाणभट्ट

संस्कृत साहित्य के रचनाकारों में महाकवि बाणभट्ट ही उन प्रतिष्ठित कवियों में हैं जिनका विस्तृत जीवन परिचय हमें उनके शब्दों में ही मिलता है। ये वात्स्यायन वंश के वैदिक कर्मकाण्डी पण्डित कुबेर के घर जन्मे।इनके पूर्वज शोण नदी के किनारे प्रीतिकूट नगर में निवास करते थे। इनके पिता का नाम चित्रभानु और माता का नाम राजदेवी था। बाणभट्ट का एक पुत्र भूषणभट्ट हुआ कहीं कहीं इसका नाम पुलिन्दभट्ट भी मिलता है। शैशवकाल में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया था और 14 वर्ष की आयु तक इनके पिता की भी मृत्यु हो गई थी। ये समृद्ध परिवार से थे युवावस्था में मित्रमण्डली के साथ स्वयं ही संसार भ्रमण के लिए निकल गए। इन्हो ने अनेक देशों की यात्रा कर विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया जिसका प्रभाव इनकी कृतियों पर स्पष्ट दिखाई पडता है ।

बाणभट्ट के स्थितिकाल के विषय मे किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है क्योंकि हर्षचरित में अपने विषय में बताते हुए इनका कथन है कि ये सम्राट् हर्षवर्धन के समकालीन और सभापण्डित थे। हर्षवर्धन का शासनकाल 606–648 ई0 ऐतिहासिक सन्दर्भों के आधार पर प्रामाणिक है। अतः इस आधार पर विद्वानों द्वारा महाकवि बाण का समय सातवीं शताब्दी ई0 पू0 स्वीकृत है ।

गद्यकार बाण की दो प्रसिद्ध रचनाएं हर्षचरित और कादम्बरी को विद्वानों ने एक मत से स्वीकारा है। इनके अतिरिक्त चण्डीशतक, मुकुटताडितक, पार्वतीपरिणय और पद्य कादम्बरी को भी कुछ विद्वानों ने बाण की रचना माना है किन्तु भाषा और भाव की दृष्टि से इन्हें निर्विवाद रूप से बाण की रचना नहीं माना जा सकता।

हर्षचरित – यह बाण की प्रारम्भिक रचना है और गद्य के भेद आख्यायिका के अन्तर्गत आती है। इसमें आठ उच्छवास हैं। प्रथम दो उच्छवासों में अपना जीवन परिचय और अपने पूर्ववर्ती कवियों के विषय में बताया है। शेष छः उच्छवासों में अपने आश्रयदाता और तत्कालीन राजा हर्षवर्धन के पूर्वजों का वर्णन करते हुए उनके जन्म से लेकर उनकी बहन राज्यश्री की प्राप्ति तक का वर्णन रोचक शैली में किया है। अष्टम उच्छवास में ग्रन्थ की अचानक समाप्ति ग्रन्थ की अपूर्णता को बताती है। इस सम्बन्ध में बाण ने स्वयं ही प्रारम्भ में कहा है कि हर्ष के जीवन का वर्णन सैकडों जीवन में भी नहीं किया जा सकता यदि उसका एक अंश सुनना चाहते हैं तो मैं बता सकता हूँ इस प्रकार हर्षचरित राजा हर्ष के जीवन की एक घटना है जिसमें बाण ने हर्ष की प्रस्थान करती हुई सेना का, राज्यसभा का तथा ग्रामों आदि का सुन्दर वर्णन किया है। अतः यह ऐतिहासिक कथानक वाला उपन्यास है।

कादम्बरी– यह संस्कृत गद्य साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना और बाणभट्ट की विशिष्ट कृति है। यह गद्य काव्य के कथा भेद के अन्तर्गत आती है। इसमें चन्द्रापीड और वैशम्पायन एवं कादम्बरी और 1 महाश्वेता के तीन जन्मों की कथा का वर्णन है। यह दो भागों में विभक्त है– पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। महाकवि बाण अपने जीवनकाल में इसे पूर्ण नहीं कर पाए, माना जाता है कि उनके योग्य पुत्र भूषणभट्ट ने इसे पूर्ण किया। इस प्रकार उत्तरार्द्ध भाग को भूषणभट्ट द्वारा रचित माना जाता है। कादम्बरी का एक अत्यन्त लघु अंश शुकनासोपदेश विद्वानों द्वारा प्रशंसित और चर्चित है। इसमें विनम्र चन्द्रापीड के माध्यम से जीवन के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय कराया है, मन्त्री शुकनास द्वारा अत्यन्त मार्मिक, सारगर्भित और विशिष्ट गुणों से युक्त उपदेश दिया गया है। कादम्बरी की कथा का प्रमुख केन्द्र सात्विक प्रेम रहा है, भाव, भाषा एवं कल्पना की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना मानी जाती है।

इसका कथा प्रवाह इस प्रकार है कि इसमें रस लेने वालों के लिए कही गई यह उक्ति उचित प्रतीत होती है– कादम्बरी रसज्ञानामाहारो अपि न रोचते।

बाण की शैली के विषय में हर्षचरित के प्रथम उच्छवास में अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं उन्हो ने कहा है–

नवो अर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो अशिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥ --- हर्षचरित 1.8

अर्थात् विषय की नवीनता, कल्पना की मौलिकता, रोचक स्वभावोकित, स्पष्ट श्लेष, रस की सहज अनुभूति और दृढबन्धयुक्त पदावली – ये सभी विशेषताएं एक स्थान पर मिलना बहुत कठिन है। बाण की कृतियों के अध्ययन से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि बाण की रचनाओं में ये सभी सहजता से विद्यमान है।

विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग करना गद्यकवि बाण की विशेषता है इसीलिए कहीं लम्बे समासों का प्रयोग तो कहीं समासरहित भाषा की सरलता दिखाई देती है। शुकनासोपदेश में लक्ष्मीवर्णन के अन्तर्गत भाषा का सरल रूप दर्शनीय है–

"न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। ... .।"

बाणभट्ट पांचाली रीति के कवि है जो मधुर और कोमल पदों से युक्त होती है। वर्ण्य विषय के अनुरूप वे प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी और समास की बहुलता वाली गौडी रीति का भी बडी कुशलता से प्रयोग करते है।

अलंकार अर्थ की अभिव्यक्ति और रस की अनुभूति में विशिष्टता प्रदान करते है। बाण की कृतियों में अनुप्रास, यमक, दीपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग मिलता है कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई देती। जैसे शुकनासोपदेश में –

अप्रत्ययबहुला ..... उन्मत्तीकरोति

इस अनुच्छेद में श्लेष के माध्यम से उपमा का चमत्कार दर्शाया है।
अनुप्रास अलंकार का उदाहरण–

इयं हि संवर्द्धन वारिधारातृष्णाविषवल्लीनां, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणां, परामर्शधूमलेखा 2–रुच्चरित–चित्राणाम् ----- प्रस्तावना कपटनाटकस्य, कदलिका काम– करिणः.....।
शुक0

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी बाणभट्ट की कुशलता दोनों कृतियों में दिखाई देती है। वे पात्रों के मन के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण कर उन्हें प्राणवान् सा प्रस्तुत करते है। कादम्बरी में उनके पात्र केवल भूलोक के प्राणी न होकर अनेक लोकों से सम्बन्धित है जैसे – चन्द्रमा का अवतार होने से चन्द्रापीड चन्द्रलोक से, कादम्बरी, महाश्वेता आदि गन्धर्वलोक से और पुण्डरीक, कपिंजल आदि दिव्यलोक से सम्बन्धित है।

प्रकृति के मनोहारी चित्रण में भी बाणभट्ट सिद्धहस्त है। वन, पशु, पक्षी, पर्वत, सरोवर आदि के उन्मुक्त वातावरण का आकर्षक चित्रण इनकी कृतियों में मिलता है। प्रकृति के कठोर एवं कोमल दोनों पक्षों का उत्कृष्ट चित्रण कादम्बरी के विन्ध्याटवी वर्णन में द्रष्टव्य है।

रसों का राजा श्रृंगार बाण का प्रिय रस है अतः कादम्बरी का प्रधान रस श्रृंगार है । इसके दोनों ही पक्ष संयोग और वियोग का अद भुत समन्वय कादम्बरी में मिलता है। अन्य रस अंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जाबालि के आश्रम वर्णन में शान्त रस, शबरसेना वर्णन में भयानक और वीभत्स रस और चन्द्रापीड की मृत्यु पर कादम्बरी की मनोदशा वर्णन में करुण रस आदि का आकर्षक वर्णन मिलता है।

बाण के विषय में गोवर्धनाचार्य की यह उक्ति उल्लेखनीय है –

जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी तथावगच्छामि ।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥

अर्थात् जैसे प्राचीन काल में शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी प्रकार प्रौढता को पाने के लिए वाणी ही बाण बन गई।

इस प्रकार काव्य प्रतिभा के धनी बाणभट्ट के दीर्घकालिक और गम्भीर अध्ययन का ही परिणाम है उनकी दोनों कृतियाँ । उनकी कृतियों में काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मीमांसा, न्याय, ज्योतिष, वेद वेदांग, इतिहास, राजनीति, पुराण, आयुर्वेद, तथा अनेक कलाओं का ज्ञान पद पद पर दिखाई देता है। अतः इनके विषय में कही गई उक्ति ''बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'' सर्वथा उपयुक्त है। इस उक्ति का शाब्दिक अर्थ है– सम्पूर्ण काव्य जगत् बाण की जूठन है अर्थात् कोई विषय ऐसा नहीं जो बाण के काव्य में प्रयुक्त न हुआ हो ।

दण्डी

संस्कृत गद्यकाव्य के इतिहास में सरल-प्राञ्जल-भावपूर्ण गद्य के लेखक के रूप में दण्डी का नाम अमरण है । दण्डी के विषय में अनेक प्रशस्तियाँ सुभाषितों के संग्रह-ग्रन्थों में उपलब्ध है । एक प्रशस्ति में वाल्मीकी और व्यास के बाद तीसरा स्थान दण्डी को ही दिया गया है ।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत् ।
कवि इतो ततो व्यासे कवयस्तवयि दण्डिनी ॥

अर्थात् वाल्मीकी के आने पर 'कविः' यह शब्द बना, व्यास के आने पर द्विवचन में 'कवि' रूप हुआ और दण्डी का आविर्भाव होने पर ही बहुवचन रूप 'कवयः' हो सका । ऐसे महान् कवि के कृतित्व तथा रचनाओं के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है ।

दण्डी का काल

दण्डी के काल के विषय में विद्वानों का एक दल छठी शताब्दी ई. के आसपास रखता है । दोनों दल अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रमाणों को इस विषय में सामने रखते हैं । अन्तरङ्ग प्रमाणों के अन्तर्गत उनकी तीन रचनाओं (दशकुमारचरित, काव्यादर्श तथा अवन्तिसुन्दरीकथा) की सहायता ली जाती है । बहिरङ्ग प्रमाणों में दण्डी के विषय में अन्य कवियों की चर्चाएँ मुख्य आधार है । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ विद्वानों ने दशकुमारचरित में निर्दिष्ट समाज और भूगोल का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि हर्षवर्धन के पूर्व गुप्त साम्राज्य के ह्रासोन्मुखकाल का समाज दण्डी ने देखा था जिसका चित्रण उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया। अतः उनका समय छठी शताब्दी ई. के मध्य (550 ई. के आसपास) होना चाहिए । शैली के आधार पर भी दण्डी को सुबन्धु और बाण से पूर्व रखने के प्रयास से प्राप्त हुए हैं । बाण का काल प्रायः निचित है कि वे हर्षवर्धन (राज्यकाल 606–48 ई.) के समकालिक थे । बाण के परवर्ती सभी लेखकों पर उनकी शैली का प्रभाव है । दण्डी पर यह प्रभाव नहीं है, अतः दण्डी बाण के पूर्व थे । कॉलिन्स ने अपने ग्रन्थ में संकेत दिया है कि दशकुमारचरित में

उपलब्ध भौगोलिक एवं राजनीतिक चित्रण हर्षवर्धन के पूर्व का ही उपपादक है, अतः दण्डी का काल 600 ई. के पूर्व ही होना चाहिए । एम. आर. काले का भी यही मत है ।

दण्डी के काल पर नये तथ्यों की प्राप्ति से, बहुत प्रकाश पडा है । 1924 ई. में दण्डी की तृतीय कृति 'अवन्तिसुन्दरी' कथा की प्राप्ति हुई । दशकुमारचरित से इसकी शैली का अन्तर है किन्तु कथानक में अद्भुत साम्य है । विद्वानों का कहना है कि दण्डी ने युवावस्था में सरल शैली में 'दशकुमारचरित' लिखा था और प्रौढावस्था में आकर उसी कथानक पर परिमार्जित अलंकृत शैली में 'अवन्तिसुन्दरीकथा' की रचना की होगी । कई विद्वानों ने 'अवन्तिसुन्दरीकथा' को सर्वथा अप्रमाणिक ही कहा है किन्तु अनेक विद्वान् इसे प्रामाणिक मानकर दण्डी के काल और वंश का निर्णय करते है । इस कथा का सार भी पद्यरूप में प्रकाशित है जिसमें दण्डी के वंश का भी वर्णन है । इस कथा में दण्डी के द्वारा बाण और मयूर की प्रशंसा किये जाने का निर्देश है । इसमें दण्डी को भारवी (या उनके मित्र दामोदर) का प्रपोत्र एवं काञ्चीनरेश नरसिंहवर्मा (प्रथम) का समकालिक कहा गया है । इसके आधार पर नये विद्वान् दण्डी को 700 ई. के निकट मानने के पक्षधर है । 'काव्यादर्श' के आधार पर भी दो तथ्य प्रस्तुत किये गये है–राजा सेन–कृत (846 ई.–866 ई.) सिंहलीभाषा में रचित 'सिय–बस–लकर' (स्वभाषालंकार) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तथा अमोघवर्ष–रचित (815 ई.) कन्नड भाषा का अलंकार–ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' ये दोनों काव्यदर्श को ही आदर्श बनाकर लिखे गये है। इससे उपर्युक्त 700 ई. वाले मत का विरोध नहीं है ।

पीटरसन तथा याकोबी ने प्राण–कृत 'कादम्बरी' के शुकनासोपदेश में आये हुए एक गद्यांश (केवलं चमिसर्गत एवाभानुभेद्यमरतालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्) की तुलना 'काव्यादर्श' के निम्नलिखीत पद से करते हुए दण्डी को बाण का परवर्ती सिद्ध किया गया है ।

अर्थालोकसंहार्यमवार्य सूर्यरश्मिभिः ।
दुष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥

डॉ. बेलवलकार ने भी काव्यादर्श–विषयक अपने ग्रन्थ में दण्डी को सातवी. शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वीकार किया है ।

इस प्रकार दण्डी का काल 550 ई० से 600 ई० के बीच और 700 ई० के निकट माननेवाले विद्वानों के दो दल है । इस विषम स्थिति में उनकी तीन रचनाओं के आधार पर उनके समय की पूर्व तथा उत्तर सीमा का निर्णय आवश्यक है । दण्डी ने शाकुन्तलम् नाटक के एक 'लोकांश लक्ष्म लक्ष्मी तनोति' (1/20) का निर्देश काव्यादर्श (1/45) में किया है– लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः। (2) काव्यादर्श (2/226, 362) में चारुदत्त और मृच्छकटिक से लिम्पतीव तमोऽङ्गानि पद्य दिया गया है। (3) काव्यादर्श (1/34) में सेतुबन्ध नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख है जो प्रवरसेन (400–450 ई.) की रचना है । बाण ने 'हर्षचरित' (1/14) में सेतुबन्ध का लेखक प्रवरसेन को बताया गया है । वह चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–413 ई.) की पुत्री प्रभावति गुप्ता के पति वाकाटकनरेश रुद्रसेन (द्वितीय) का पुत्र था। इस प्रकार दण्डी 450 ई. के परवर्ती है ।

काव्यादर्श के आधार पर सिंहली भाषा का ग्रन्थ स्वभाषालंकार प्रायः 850 ई. में राजा सेन द्वारा लिखा गया था । कन्नड का अलंकार–ग्रन्थ कविराजमार्ग इसी काव्यादर्श पर आश्रित है जो अमोघवर्ष के द्वारा 815 ई. में रचा गया। अतः दण्डी आठवीं शताब्दी ई. के बाद नहीं हो सकते । (2) काव्यादर्श (2/279) में दण्डी ने राजवर्मा की शिवभक्ति की चर्चा की है, इस राजा को काञ्चीनरेश नरसिंहवर्मा (द्वितीय 7वीं शताब्दी का अन्तिम चरण) से अभिन्न माना गया है । (3) काव्यादर्श के मङ्गलश्लोक में आये सर्वशुक्ला सरस्वती इस वाक्यांश पर विज्जका

(या विजया) की टिप्पणी प्रसिद्ध है । यह विज्जका पुलिकेशिन् (द्वितीय, 634 ई.) की पुत्रवधू थी, पी. वी. काणे इस आधार पर दण्डी को 600 ई. में सिद्ध करते हैं । (4) वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में दण्डि के सिद्धान्तों का परिवर्धन किया है । वामन का समय जयापीड के राज्यकाल (779–813 ई.) में माना जाता है । (5) कुछ विद्वानों ने बाण और माघ के ग्रन्थों की छाया काव्यादर्श में दिखाकर इन दोनों कवियों के अनुवर्ती दण्डी को 700 ई. में सिद्ध किया गया है । (6) अवन्तिसुन्दरीकथा में दिये गये दण्डी के पूर्वजों के वृत्तान्त से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारवी के मित्र दामोदर के प्रपौत्र दण्डी को भारवी के 100 एक सौ वर्ष बाद (600+100+700 ई.) रखा जा सकता है । इन प्रमाणों से मुख्यतः दण्डी को 700 ई. के आसपास रखने का आग्रह नये विद्वानों ने किया है । इनके सभी तर्क काव्यादर्श और अवन्तिसुन्दरी कथा पर आश्रित हैं । दशकुमारचरित में केवल अराजकता की स्थिति देखकर प्राचीन विद्वानों ने हर्षवर्धन के पूर्व दण्डी को माना था । वस्तुतः यह अराजक स्थिति कभी भी हो सकती थी । किन्तु दण्डी का चित्रण उपर्युक्त कालसीमाओं के अन्तर्गत (450–700 ई.) ही माना जा सकता है, वह 550 ई. से 600 ई. का ही संकेत देता है । दण्डी की भाषा बाण आदि कवियों से सर्वथा अप्रभावित है किन्तु यह निर्णायक तथ्य नहीं है । बाण के बाद भी प्रसादगुण-युक्त वैदर्भी शैली का प्रयोग हुआ है । दण्डी की अवन्तिसुन्दरीकथा में तो बाण का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है । इसीलिए दण्डी के काल का महत्वपूर्ण आधार यह अवन्तिसुन्दरीकथा ही है जिसे प्रामाणिक न मानने की स्थिति में 600 ई. तक ही दण्डी को रखा जा सकता हैय और यदि यह प्रामाणिक रचना हो तो दण्डी को 675 ई. एवं 725 ई. के बीच रख सकते हैं । दण्डी की रचनाएँ शाङ्गधरपद्धति (श्लोक–175) में दण्डी की तीन रचनाओं का निर्देश है ।

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

दण्डी की रचनाओं में काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित तो परम्परा से प्रमाणित हैय किन्तु तीसरी कृति के विषय में ऐकमत्य नहीं । छन्दोविचिति, कलापरिच्छेद, द्विसन्धानकाव्य एवं मृच्छकटिक तक के नाम प्रस्तावित हुए हैं । इधर बहुमत ‘अवन्तिसुन्दरीकथा’ की ओर झुका है। अतः इस ग्रन्थत्रयी का परिचय दिया जाता है ।

काव्यादर्श

यह तीन परिच्छेदों का पद्यात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। परिच्छेद में (105 पद्य) काव्य का महत्व, लक्षण, भेद, महाकाव्य, गद्यकाव्य, भाषाभेद तथा काव्यगुणों का विचार है। द्वितीय परिच्छेद में 368 पद्य अलङ्कारों का विवेचन है जिसमें उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप आदि के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन है । तृतीय परिच्छेद में कालङ्कार, चित्रकाव्य तथा काव्यदोषों का विवेचन है (178 पद्य) । इस ग्रन्थ के आधार पर भामह ('काव्यालङ्कार' के लेखक) तथा दण्डी के पौर्वापर्य पर विवाद रहा है । किन्तु काव्यादर्श में काव्यालङ्कार के सिद्धान्तों का खण्डन दिखायी पड़ने से दण्डी ही परवर्ती लगते हैं । दोनों ग्रन्थ सरल शैली में विवेचन-परक है किन्तु काव्यादर्श में कहीं-कहीं शास्त्रार्थ प्रवृत्ति भी है ।

दशकुमारचरित

यह दण्ड-रचित गद्यकाव्य है जिसमें कथा और आख्यायिका नामक दोनों गद्य-भेदों के लक्षण उपन्यस्त हैं । इसके दण्डि-रचित होने में तो विवाद नहीं है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ को उनकी कृति मानने में आपत्ति उठी है ।
वर्तमान ग्रन्थ तीन भागों में उपलब्ध है –
(1) पाँच उच्छ्वासों की पूर्वपीठीका
(2) आठ उच्छ्वासों का दशकुमारचरित एवम्
(3) उपसंहार ।

इनमें कुछ विद्वानों का अभिमत है कि पूर्वपीठिका और उपसंहार भाग बाद में जोडे गये है । दण्डि की मौलिक कृति में केवल मध्य भाग ही शेष है। कथा को अविच्छिन्न तथा पूर्ण करने के लिए आगे-पीछे कुछ अंश प्रक्षिप्त हुए। इस मत को ईगलिंग (eggeling), अगाशे, विल्सन तथा कीथ ने प्रवृत्त किया । अपने मत के समर्थन में इन्होंने युक्तियाँ दी है कि कुछ पाण्डुलिपियों में पूर्वपीठीका और उपसंहार (उत्तरपीठिका) नहीं है, पूर्वपीठिका में दी गई वंशावली दशकुमारचरित की नामावली से कहीं-कहीं भिन्न है, प्रक्षिप्त भागों में व्याकरण सम्बन्धी अनियमितताएँ है, इन भागों की पाण्डुलिपियों में पाठ-भेद बहुत है तथा शैली की दृष्टि से भी ये भाग मूल ग्रन्थ की अपेक्षा शिथिल है ।

दशकुमारचरित को साकल्य रूप से दण्डी-रचित न मानने वाले विद्वानों की युक्तियाँ विचारणीय है । पाण्डुलिपियों में पूर्व और अन्तिम भाग न मिलना कई कारणों से सम्भव है जैसे- असुरक्षा, जीर्णता इत्यादि । ऐसी अनेक पाण्डुलिपियाँ है (जैसे-बुद्धचरित की) जिनमें पूर्वापर भाग सुरक्षित नहीं रह सके । कभी-कभी पूर्वापर भाग में ताल-मेल न रहने या प्रतिलिपि करने में भूल के कारण भी कुछ नामों में सामञ्जस्य नहीं है । जैसे-मूलग्रन्थ में सुमन्त्र (पूर्वपीठिका में मन्त्रगुप्त), राजपुत्र (मन्त्रिपुत्र), प्रमति (कामपाल राजता का पुत्र - सुमति मन्त्री का पुत्र) यह सब पाठ की अस्पष्टता का फल है । व्याकरण की शिथिलताएँ भी लिपिकारों के दोष है । सम्पूर्ण दशकुमारचरित की शैली समान रूप से सरल, प्रवाहपूर्ण, अल्प वर्णनों से युक्त तथा कथानक की रोचकता बनाये रखने वाली है । पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि करते हुए कुछ संशोधकों ने अवश्य ही अपनी बुद्धि से कुछ परिवर्तन किये होंगे । अतः पूरी कृति दण्डी की है । इस विषय में एम. आर. कवि ने एक अन्य कारण बताया है कि 1250 ई० के आसपास दशकुमारचरित (सम्पूर्ण) का तेलुगु-अनुवाद हुआ था । जब समग्र दशकुमारचरित किसी कारण से पूर्ण और अन्त के अंशों से रहित हो गया तब किसी कुशल लेखक ने नष्ट भागों का तेलेगु से पुनः संस्कृत रूपान्तर कर दिया । दशकुमारचरित की तीन टीकाएँ प्रसिद्ध है- भूषण (शिवरामपण्डितकृत), पदचन्द्रिका (कविन्द्राचार्य कृत) तथा लघुदीपिका (भानुचन्द्रकृत) । ये केवल मध्यभाग पर ही है, पूर्व और उत्तरपीठिकाओं पर नहीं । अर्थात् इनकी दृष्टि मध्यभाग ही दण्डि-कृत है । सम्पूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ को दण्डिकृत मानने के कई तर्क है-

(1) 'दशकुमारचरित' शीर्षक की सार्थकता पूरे ग्रन्थ से होती है, मध्यभाग में तो सात कुमारों का पूरा और एक कुमार का अधूरा वर्णन है । नायक (राजवाहन) का आधा वर्णन तो पूर्वपीठिका में ही है, शेष दो कुमारों का भी वर्णन वहीं है । उत्तरपीठिका परिणाम या कार्यावस्था का परिचय देती है । अतः कथानक की दृष्टि से और शीर्षक के विचार से पूरा ग्रन्थ एकात्मक है । ऐसा न होने से इसका शीर्षक कुछ भिन्न ही होता ।

(2) भाव, भाषा शैली तथा विचार-तत्त्व (जीवनदर्शता) की एकरूपता पूरे ग्रन्थ को एकात्मक सिद्ध करती है ।

सर्वत्र कुमारों का ही वर्णन है, प्रकृति-वर्णन या अन्य वर्णनों में संयम समान रूप से मिलता है, रोचकता सर्वत्र मिलती है तथा वैदर्भ रीति का आद्यन्त निर्वाह हुआ है । कवि के विचारों पूर्व और मध्यभाग में कहीं विरोध नहीं है ।

(3) पूर्वपीठिका के मङ्गलश्लोक में आठ बार तथा गद्यभाग में अनेक बार 'दण्ड' शब्द का प्रयोग करने के कारण कवि का उनाम 'दण्डी' पडा था- यह भी इस रचना के साकल्य-रूप से दण्डिकृत होने का प्रमाण है ।

ऐसा माना जाता है कि दण्डी ने इसकी रचना युवावस्था में की थी । सम्भव है, उन्हें इसका पूर्व और अन्तिम भाग बाद में अच्छा नहीं लगा हो तो, उन्होंने इसका संशोधित रूप बनाया हो जिससे यह विवाद उत्पन्न हुआ अथवा किसी परवर्ती लेखक ने ही इस अंश का संशोधन किया । किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल मध्यभाग को

दण्डिकृत मानने से कृति अपूर्ण और विकलाङ्ग होगी । इसके कथानक तथा अन्य पक्षों पर पृथक् विचार करेंगे ।

अवन्तिसुन्दरीकथा

दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका में मालव-नरेश की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय-वृत्त संक्षेप में वर्णित है, उसी का स्वीस्तर निरूपण इस अवन्तिसुन्दरीकथा में किया गया है । इस ग्रन्थ का आंशिक प्रकाशन 1924 ई. में दक्षिणभारती ग्रन्थमाला में श्री एम. आर. कवि के सम्पादन में हुआ था । पुनः तिरुअन्नतपुरम् की अनन्तशयन-संस्कृतग्रन्थावली में 1954 ई. में इसका पूरा रूप प्रकाशित हुआ । विद्वानों का अनुसार हस्तलेख की अपूर्णता के कारण यह संस्करण भी अपूर्ण ही है । कुछ लोगों का विचार है कि यह दण्डी के नाम से किसी अन्य कवि के द्वारा की गयी रचना है । दूसरी ओर कुछ विद्वान है कि अवन्तिसुन्दरीकथा ही दण्डी की मुख्य रचना है, इसी का सार दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका के रूप में किसी ने प्रस्तुत किया होगा । प्राचीन साहित्य में दशकुमारचरित की अपेक्षा इसी गद्यकाव्य को दण्डी की रचना के रूप में अधिक ख्याति मिली थी । नामसंग्रहमाला में अप्पयदिक्षीत ने कहा है इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डिप्रयोगाः । इसमें सुबन्धु, मयूर और बाण की प्रशंसा की गयी है, जिसके आधार पर दण्डी का काल इनके अनन्तर 700 ई. में माना गया है । आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि अवन्तिसुन्दरीकथा के शैली-सौन्दर्य के आधार पर पण्डितों में यह प्रशस्ति चली थी- दण्डिनः पदलालित्यम् । जो लोग इस गद्यकाव्य को दण्डी की कृति नहीं मानते, उनका कथन है कि इसके कवि ने दण्डि और बाण की प्रमुख विशिष्टताओं को लेकर इसका प्रणयन किया था। तदनुसार दशकमारचरित से पूर्वपीठिका का कथानक एवं भाषा में पदलालित्य का ग्रहण किया है तो 'हर्षचरित' से प्राचीन कवियों का गुणानुवाद एवं कविवंशवर्णन की प्रक्रिया अपनायी गयी है । इस पर कादम्बरी का भी प्रचुर प्रभाव है जैसे अवन्तिसुन्दरीकथा (पृ. 47) में जो लक्ष्मी का वर्णन मिलता है, वह शुकनासोपदेश (कादम्बरी का भाग) के लक्ष्मी-वर्णन से अनुप्राणित गद्यकाव्य का पद्यात्मकक संक्षिप्त रूप (अवन्तिसुन्दरीकथासार) भी उपलब्ध है । इसके लेखक का नाम अज्ञात है । यह सप्तम सर्ग में समाप्त होता है । अवन्तिसुन्दरीकथा की प्रामाणिकता (दण्डी की कृति होने) पर इनका काल मुख्यतः आश्रित है- यह कहा जा चुका है ।

दशकुमारचरित का कथन

'दशकुमारचरित' के तीन खण्डों में पूर्वपीठिका में कथा की पृष्टभूमि के साथ दो कुमारों की पूरी किन्तु नायक राजवाहन की अधूरी कथा दी गयी है । मूल भाग में राजवाहन की कथा पूर्ण करके शेष सात कुमारों की कथा वर्णित है । उपसंहार में कथा की सुन्दर समाप्ति की गयी है । अतः कथानक की दृष्टि से पूरी रचना एक सम्बद्ध सुघटित कृत है । ग्यारहवीं शताब्दी ई. में पूरी रचना को दण्डि-कृत मानते थे । इसकी पूर्वपीठिका का प्रथम उच्छास ग्रन्थ की भूमिका देता है कि मगध- नरेश राजहंस (जिनकी रानी वसुमति थी) को मालव-नरेश मानसार ने पराजित करके विन्ध्याटवी में रहने को विवश कर दिया । वहीं वसुमति ने राजवाहन नामक पुत्र को जन्म दिया । राजवाहन के संरक्षण में नौ अन्य कुमार भी आये । उनमें सात तो मन्त्रियों के पुत्र थे और दो मिथिलानरेश प्रहारवर्मा के पुत्र थे। दासों कुमारों की शिक्षा साथ-साथ हुई तथा वे बडे होने पर दिग्विजय के लिए निकल पडे । अभियान के क्रम में ही वे पृथक् हो गये । क्रमशः वे इस कथा के नायक राजवाहन से मिलते गये और अपनी अद्भुत कथाएँ सुनाते गये । पूर्वपीठिका के तृतीय और चतुर्थ उच्छासों में क्रमशः सोमदत्त और पुष्पोद्भव अपनी रोमांचक कथाएँ राजवाहन को उज्जयिनी में सुनाते है । पञ्चम उच्छास में राजवाहन और मालवनरेश मानसार (मगधनरेश के शत्रु) की पुत्री अवन्तिसुन्दरी का प्रणय और अद्भुत परिणय वर्णित है, यह कथा मूलदशकुमारचरित (मध्यभाग) के प्रथम उच्छास तक चली गयी है जहाँ नायक राजवाहन को बन्धन में डालकर चम्पा पर आक्रमण के लिए अवन्तिसुन्दरी का भाई (चण्डवर्मा) ले जाता है ।

चम्पा-विजय के उत्सव में ही राजवाहन के मित्र अपहारवर्मा ने ऐसा आक्रमण किया कि चण्डवर्मा मारा गया, राजवाहन छुट गया । अब चम्पा में ही बिछडे हुए मित्रों की एक-एक कर भेंट होती है तथा वे सब राजवाहन को अपनी-अपनी रोमांचक कथाएँ सुनाते है । सबकी कथाओं में किसी न किसी राज्य की प्राप्ति और राजकुमारी का परिणय भी रहता है अर्थात् अब सभी राजा बन गये है । क्रमशः अपहारवर्मा (उ. 2), उपहारवर्मा (उ. 3), अर्थपाल (उ. 4), प्रमति (उ. 5), मित्रगुप्त (उ. 6), और विश्रुत (उ. 8) अपने-अपने इतिवृत्त नायक को चम्पा में ही सुनाते है । उत्तरपीठिका में ये सभी मिलकर राजहंस के पास जाते है जो इन कुमारों को स्वविजीत राज्यों को समर्पित कर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार करते है । सभी कुमार नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते है । मित्रगुप्त के इतिवृत्त में अवान्तर कथाओं के रूप में धूमिनी, गोमिनी, निम्बवती और नितम्बवती की कथाएँ भी है । मन्त्रगुप्त के वृत्तान्त की विशिष्टता है कि उसमें ओष्ठ्यवर्ण (पवर्ग) का बिल्कुल प्रयोग नहीं है, यहाँ तक कि पदान्त 'म्' भी अनुस्वार के रूप में परिवर्तित है । इसका विलक्षण कारण कवि ने कहा है कि उसकी प्रीयतमा के दाँतों द्वारा अधरक्षत होने से वह करों से ओठों को छिपाये हुए था (करकमलेन किंचत्संवृताननो ललितवल्लभाधरभर-दलदन्तक्षत-व्यसनविह्लाधरमणिः) । उनकी कथा में (सप्तम उच्छास) लालित्य का अनुपम सन्निवेश है ।

सुबन्धु

संस्कृत गद्य-साहित्य में सुबन्धु का विशिष्ट स्थान है ।उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति वासवदत्ता है । प्रिय विद्यार्थियों ! इकाई के इस खण्ड के द्वारा आप सुबन्धु के जीवन-वृत्त, कर्तृत्व और शैलीगत वैशिष्ट्य से परिचित होंगे ।

जीवन-वृत्त

गद्यरत्नत्रयी (सुबन्धु, बाण और दण्डी) में सुबन्धु का समय, स्थान और वंश आदि का यथार्थ परिचय प्राप्त नहीं होता है । सुबन्धु के माता-पिता के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है । उनकी शिक्षा-दीक्षा भी अज्ञात है । गद्यकाव्य के लेखकों में सुबन्धु ही सर्वप्रथम लेखक है जिनका ग्रन्थ वासवदत्ता अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है । सुबन्धु वेद, व्याकरण, पुराण, दर्शन, धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत, काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र और संगीत आदि में निपुण थे ।

श्लेषप्रधान शैली के कारण कुछ इन्हें कश्मीरी मानते है तो कुछ मध्यदेशीय स्वीकार करते है । बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किये जाने के कारण ये बाण के पूर्ववर्ती सिद्ध होते है । इन्होंने एक श्लेष के द्वारा न्यायवार्तिक के रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर का स्पष्ट संकेत किया है-न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम् उद्योतकर का समय छठी शताब्दी का अन्त तथा सप्तम शताब्दी का आदि माना जाता है । इससे सुबन्धु का समय उद्योतकर के अनन्तर होना चाहिए ।

हर्षवर्धन (606-48) के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय (630-640 ई0) तक मानना उचित प्रतीत होता है । बाण से पूर्ववर्ती होने के कारण सुबन्धु का समय 600 ई0 के आस-पास मानना उचित है ।

सुबन्धु बाण के लिए प्रेरक और आदर्श थे इसलिए हर्षचरितम् में उनकी कृति की प्रशंसा करके कादम्बरी में उससे आगे निकल जाने की बात बाण ने की है । सुबन्धु की समन्वयवादी एवं धार्मिक भक्त के रूप में प्रतिष्ठा है ।

कर्तृत्व

सुबन्धु का एक ही ग्रन्थ है जो वासवदत्ता के नाम से प्रसिद्ध है । 'वासवदत्ता' का कथानक पूर्णतः कल्पित है, इसका कोई विभाजन नहीं है अतः इसे कथा की श्रेणी में रखा जाता है ।

इसमें राजकुमार कन्दर्पकेतु तथा राजकुमारी वासवदत्ता के प्रेम और विवाह का रोचक वृत्तान्त वर्णित है। नायक-नायिका एक दूसरे को स्वप्न में देखते है और परस्पर अनुरक्त हो जाते है। राजा चिन्तामणि का पुत्र राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में एक बहुत ही सुन्दर राजकुमारी को देखता है और अपने मित्र मकरन्द के साथ उसकी खोज में निकल पडता है। विन्ध्य की तलहटी में भ्रमण करते हुए एक वृक्ष के नीचे आराम करते हुए रात्रि में शुक-सारिका की वार्ता में राजकुमार और मित्र मकरन्द ने सुना कि पाटलिपुत्र की राजकुमारी ने राजकुमार कन्दर्पकेतु को स्वप्न में देखा है जिसकी खोज के लिए उसकी सारिका तमालिका निकली हुई है। इस तरह शुक-सारिका के सहयोग से नायक और नायिका का मिलन होता है। किन्तु वासवदत्ता का पिता श्रृंगारशेखर उसका विवाह विद्याधरों के राजा पुष्पकेतु से करना चाहते है वे दोनों एक जादुई घोडे से भाग जाते है और विन्ध्य पर्वत पर पहुँचते है। विन्ध्याटवी में पहुँचकर वासवदत्ता सोते हुए कन्दर्पकेतु को छोडकर समीप ही घूमने के लिए निकल जाती है जहाँ उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर उसे पाने के लिए किरातों के दो समूहों में परस्पर युद्ध होता है। युद्ध के समय किसी तरह छिपकर वासवदत्ता समीप के किसी ऋषि के आश्रम में चुपके से चली जाती है और अनुचित प्रवेश के कारण पाषाणशिला बन जाती है। उधर कन्दर्पकेतु जब अपनी नींद से जागता है तो वासवदत्ता को न पाकर आत्महत्या करने के लिए उद्यत होता है किन्तु तभी आकाशवाणी होती है कि तुम दोनों का पुनः मिलन होगा। इसलिए वह आत्महत्या नहीं करता है। कुछ समय पश्चात् राजकुमार कन्दर्पकेतु के स्पर्श से पत्थर की शिलारूपी वासवदत्ता पुनः वासवदत्ता बन जाती है तथा दोनों का मिलन हो जाता है। अन्त में कन्दर्पकेतु वासवदत्ता के साथ स्वराजधानी चला जाता है और शेष जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करता है। इसी के साथ कथा का अन्त हो जाता है।

शैलीगत वैशिष्टय

संस्कृत-गद्यकारों की बृहत्त्रयी में सुबन्धु का अद्वितीय स्थान है। उनकी रचना वासवदत्ता में प्रौढता परिलक्षित होती है। विद्धानों के लिए यह परीक्षा का ग्रन्थ है।

ओज, समास बहुलता, कठिन पद-विन्यास, पाण्डित्य-प्रदर्शन और श्रमसाध्यता, काव्यगौरव और प्रखर पाण्डित्य के लिए विख्यात सुबन्धु ने अपने कृतित्व में जिस शैली को अपनाया है वह श्लेषमयी गौडी रीति है जिसको कवि ने स्वयं ही स्वीकार करते हुए कहा है -

सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् ॥ वास.13।

अर्थात् जिसके पर सरस्वती देवी ने वरदान देकर अपना अनुग्रह प्रकट किया है, जो सुबन्धु एकमात्र सज्जनों के सुबन्धु है तथा जो प्रत्येक अक्षरों के श्लेषालङ्कार बहुल प्रबन्ध के विन्यास में विदग्धता के निधि है, उन्होंने ही वासवदत्ता की रचना की है। शैलीगत वैशिष्टय के आधार पर 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की कसौटी पर सुबन्धु की वासवदत्ता पूर्णतया खरी उतरती है।

सुबन्धु की वासवदत्ता में प्रकृति-वर्णन, स्त्री-सौन्दर्य, नगरीवर्णन, विस्तृत संवाद आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिसके कारण कवि का कला-पक्ष अत्यधिक विकसित और उजागर हो सका है, परन्तु उनका भाव-पक्ष कहीं दबा सा प्रतीत होता है। रस परिपाक और कथा-प्रवाह में भी न्यूनता दृष्टिगोचर होती है। अलंकारप्रियता, पौराणिक-कथा, विदग्धता और समास रसिकता का अधिक प्रदर्शन किया गया है। श्लेष, विरोधाभास और परिसंख्या आदि अलंकारों की बहुलता है। इनकी बहुलता कवि को रससिद्ध कवित्व की श्रेणी से दूर कर देती है। यही कारण है कि आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति सुबन्धु पर पूर्णतया घटती है कि कुछ कवि केवल अलंकार प्रयोग में ही अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते है और रस परिपाक की सर्वथा उपेक्षा करते है। वे उत्तम काव्य में मुख्यतया श्लेषप्रयोग और वक्रोक्ति का समन्वय आवश्यक मानते है।

सुबन्धु ने पद-पद पर श्लेष-प्रयोग के महत्व पर गर्व करते हुए कहा है -

प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्धनिधिर्निबन्धम् ॥ (वासवदत्ता भूमिका श्लोक 13)

सुबन्धु को उनकी शैली के कारण विद्वानों में बहुत सम्मान प्राप्त हुआ । सुबन्धु का श्लेष-प्रयोग अद्भुत एवं विलक्षण है । विरोधाभास, परिसंख्या, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग कवि की नूतन दृष्टि एवं सूक्ष्म चिन्तन को परिलक्षित करता है । इनकी रचना में संगीतात्मकता, लयात्मकता है । क्लिष्टपदावली और कोमल-कान्त पदावली का मिश्रण किया गया है । एक तरफ उलझाने वाले श्लेष प्रयोग हैं तो दूसरी ओर स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा सहजता प्रदान करने वाले अलंकार भी हैं । कवि की भाषा पर सिद्धता है । कठिन के बाद सरल और सरल के बाद कठिन पदावली का प्रयोग काव्य को समता प्रदान करता है । ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त यह काव्य अनुपम है । पाण्डित्य प्रदर्शन और सरस पदावली दोनों विरोधी गुणों का समन्वय होने के कारण वासवदत्ता में मणि-कांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है ।

अध्याय – 2

नलचम्पू का उद्भव एवं विकास

वेदकाल से लेकर सदियों पुरानी होते हुए भी नलकथा हमेशा से प्रिय और प्रसिद्ध रही है ।

त्रिविक्रम भट्टजीने इस नलकथा की प्रेरणा महाभारत से पाई जाने की संभावना है। महाभारत के वनपर्व के अध्याय 52 से 79 तक यह नलकथा का वर्णन है। वन में गये हुए युधिष्ठिर को बृहदश्वने नलोपाख्यान कहा है। नलचम्पू में वर्णित कथानक मात्र 53 से 56 चार अध्याय में ही समाविष्ट हो जाता है ।

नलचम्पू में वस्तु का फलक संक्षिप्त है। वैसे भी चम्पू में कथानक से ज्यादा वर्णन की ओर अभिरुचि रहती है । उसमें भी बाणभट्ट को किसी कविने अपने आदर्श के रूप में स्वीकार कीया तब तो कथाप्रवाह मन्द ही हो जाता है। ऐसे उदाहरण गद्य में नहीं पद्य में भी पाये गयें है । यहां भी कथाप्रवाह में वस्तु का संविधान प्रसंगो से ज्यादा वर्णनों से किया गया है। नलचम्पू

सात उच्छ्वासों में विभकत है। इसमें प्रथम तीन उच्छ्वास में निम्नलिखित प्रसंगो का आलेखन है ।

प्रथम उच्छ्वास में (4) त्रिविक्रम का वंशपरिचय (2) आर्यावर्त का वर्णन (3) आर्यावर्त के निवासीओं का सुख (4) निषध जनपद (5) निषधानगरी का वर्णन (6) नल वर्णन (7) नल का व्यावहारिक जीवन (8) वर्षावर्णन (9) मृगया के बाद उजडे हुए वन का वर्णन (10) कामविह्व्ल नल का वर्णन और, द्वितीय उच्छ्वास में (1) वर्षा के बाद आई हुई शरदऋतु का वर्णन (2) वनपालिका द्वारा विहारवन का वर्णन (3) हंस द्वारा किये गयें दक्षिणदेश और कुंडिनपुर के वर्णन (4) भीम और प्रियंगुमञ्जरी तथा दमयन्ती के वर्णन (5) चन्द्रिका वर्णन तृतीय उच्छ्वास में (1) प्रभातवर्णन (2) मध्याह्नवर्णन (3) राजा भीमदेव के स्नान, आहार आदि का वर्णन (4) प्रियंगुमञ्जरी की समगर्भावस्था, कन्याजन्म (5) दमयन्ती का शैशव, शिक्षण और तारुण्य का वर्णन यहाँ प्रसंगो से ज्यादा वर्णन देखे जातें है। अलबत्त, कवि का साफल्य है कि प्रचूर वर्णन कभी कथाप्रवाह में बाधक नहीं बनते। वर्णनालेखन और प्रसंगालेखन में त्रिविक्रम भट्ट आयोजनपूर्वक आगे चल रहे है ऐसा प्रतीत होता है ।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अपने जीवन का अस्तित्व बनाए रखने के लिए उसे निरन्तर संघर्ष करना पडता है। यह संघर्ष उसे अन्य व्यक्तियों से भी करना पडता है और प्रकृति से भी फलस्वरूप उसे नाना प्रकार के अनुभव होते है। प्रकृति के रमणीय –श्य उसे उल्लासित करते है। मानव समाज के सम्पर्क में आने पर ही उसे सुख–दुःख, हर्ष–शोक आदि अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती है। ये सभी प्रकार की अनुभूतियाँ मानव–मानस में भावों और विचारों की वीचियाँ तरंगित कर देती है। इस अभिव्यक्ति का साधन बनती है वाणी।

अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का समावेश उसे कला का रूप देता है। अभिव्यक्ति और अनुभूति का यह मणि–कञ्चन योग, जब वाणी के माध्यम से अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है, तब उसे वाङ्मय कहा जाता हे। वैदिक काल से लेकर आज तक संस्कृत वाङमय की धारा तीव्र गति से प्रवाहित हो रही है।'

भोज ने स्वयं चम्पू–रामायण की रचना की, किन्तु उन्होंने भी चम्पू के भीतर, वाद्य और संगीत के समन्वित माधुर्य स–श, गद्य–पद्य के मिश्रित आनन्द की ही चर्चा की, उसके विवेचन और विश्लेषण की ओर अग्रसर नहीं हुए।

संस्कृत के आचार्यों ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द या रसात्मक वाक्य को काव्य माना है। गद्य पद्यमय काव्य' को चम्पू की संज्ञा दी गई है।

काव्य की पुरूष शरीर से तुलना की है। शब्द और अर्थ काव्य पुरूष के शरीर है, रस आत्मा है ध्वनि प्राण है ओज, माधुर्य आदि उनके गुण है। अलंकार उसके श्रृंगार के साधन है, रीतियां काव्य पुरूष के आचरण और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करती है।

इन्द्रीय ग्राहिता के आधार पर काव्य के –श्य और श्रव्य दो भेद किये जाते है। –श्य काव्य में रूपक और उपरूपक आते है, श्रव्य काव्य के अन्तर्गत प्रबन्ध और मुक्तक आते है।

श्रव्य काव्य में गद्य–पद्य मिश्रित शैली अपनाई जाती है। गद्य–पद्य मिश्रित शैली में निर्मित काव्य ही मिश्र काव्य कहलाता है। मिश्र काव्य का सर्वोत्कृष्ट अंग चम्पू काव्य है। चम्पू काव्य में भी अन्य काव्य भेदों की तरह रमणीयता रहती है।
संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में चम्पू काव्यों को बहुत ही कम स्थान प्राप्त हुआ है, केवल श्रीकृष्ण माचारी ने चम्पू काव्यों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है।
संस्कृत के आचार्यों ने 'गद्यपद्यमय काव्य' को चम्पू काव्य की संज्ञा दी है।
संस्कृत के इतिहासकार इसी की आवृत्ति करते रहे।

गद्यानुबन्धरसमिश्रित पद्य सूक्ति हृद्या हि वाद्यकलया कलि तेव गीतिः।
तस्माद् धातु कवि मार्गजुषा सुखाय चम्पूप्रबन्धरचनां रसना मदीया।।

गद्य सम्बन्ध के होने से पद्य सूक्तियाँ उसी प्रकार आनन्दप्रद हो जाती है जैसे वाद्य–यन्त्रों की सहायता से गान विद्या अधिक चमत्कारप्रद हो जाती है, अतः कवि मार्ग के अनुसरण में लगे लोगों को मानसिक सुख प्रदान करने की इच्छा से हमारी रचना चम्पू प्रबन्ध प्रस्तुत करने का यत्न करेगी।'

प्रथम चम्पूकाव्य नलचम्पू है। पन्द्रहवी शती तक मात्र बीस चम्पूकाव्य उपलब्ध होते है। शेष चम्पूकाव्य बाद के 250 वर्षों में लिखे गए है। पौराणिक चम्पूकाव्यों की संख्या सबसे अधिक है। चम्पू काव्यों के निर्माण में भक्ति–आन्दोलन और दरबारी वातावरण ने प्रभावशाली कार्य किया है।

दण्डी के समय (600–700 ई.) तक चम्पू काव्य अस्तित्व में आ चुके थे। चम्पू काव्य का बीज जातक ग्रन्थों में पाया जाता है। जातक ग्रन्थों का समय 0वीं शती से पूर्व का माना जाता है।

चम्पू काव्य की परिभाषा सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने प्रस्तुत की –

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।।

सबसे प्राचीन जो चप्पूग्रन्थ उपलब्ध होता है वह 'त्रिविक्रमभट्ट कृत 'नलचम्पू' या 'दमयन्तीचम्पू' जैन कवि 'सोमप्रभा' का यशस्तिलक चम्पू राष्ट्रकुत राजा कृष्ण के समय में 959 ई. में लिखा गया। ये दोनों चम्पूग्रन्थ ही आगे चलकर लिखे गये चप्पू ग्रन्थों के लिये आदर्श बने।

प्राचीन उपलब्ध चम्पू काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट कृत नलचम्पू' (अपर नाम दमयन्ती चम्पू) सबसे प्राचीन और साहित्यक –दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है। त्रिविक्रम भट्ट हैदराबाद के अन्तर्गत मान्यखेट के अधिपति राष्ट्रकूट वंश के इन्द्रराज के सभा पण्डित थे, इन्द्रराज का अभिषेकोत्सव 945 ई. में हुआ था अतः त्रिविक्रम भट्ट का समय निश्चित है, इन्हीं की दूसरी कृति मदालसा चम्पू' है। शिलालेखों के माध्यम से चम्पू काव्यशैली का विकास हुआ। गद्य काव्यों ने उसे प्रेरणा दी और 945 ई. में 'नलचम्पू' तथा 959 ई. में 'यशस्तिलक चम्पू' काव्य का निर्माण हुआ। इस

प्रकार चम्पू काव्य का श्रीगणेश दसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल में ही हो गया पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक गिनती के ही चम्पूकाव्य उपलब्ध होते हैं।

इस तथ्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त तक चम्पू काव्य की सम्पूर्ण विशिष्ट प्रवृत्तियाँ एवं रचना प्रवाह की दिशा का संकेत प्राप्त हो जाता है।

रामायण–महाभारत, अन्य पुराण, ऐतिहासिक एवं आचार्यों के चरित, स्थानी देवताओं के उत्सव तथा मुख्य रूप से भागवताश्रित कथायें चम्पू काव्यों की रचना प्रेरणा स्त्रोत के रूप में प्रगट होती हैं।

बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में अनेक जैन काव्यों की रचना हुई जैन चम्पूकाव्य इसी परम्परा की विविध कडियाँ है। वस्तुतः चम्पूकाव्यों के उत्थान में जैनाचार्यों की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।'

विजय नगर राज्य की स्थापना के उपरान्त चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल से ही वेदान्ताचार्यों का महत्व बढने लगा विजय नगर राज्य की स्थापना में सुप्रसिद्ध वेदान्ताचार्य विद्यारण स्वामी का महत्वपूर्ण हाथ है। उन्होंने स्वयं शंकराचार्य के दिग्विजय पर अनेक श्लोकों की रचना की। विजय नगर की स्थापना के उपरान्त ही वेदान्तदेशिक पुनः श्रीरंग वापस लौटे इनके तप और त्याग से रामानुज सम्प्रदाय की प्रचुर श्रीवृद्धि हुई।

चम्पू काव्यों के निर्माण में वैष्णव, वेदान्तचार्यों की संख्या अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अनन्ताचार्य, रामानुजदास श्री निवास दास एवं वेंकटनामधारी अनेक कवियों ने चम्पू काव्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया, जो सभी इसी रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी है।

सुप्रसिद्ध विद्वान अप्पय दीक्षित के परिवार से सम्बन्धित नीलकंठ आदि अनेक व्यक्तियों ने चम्पूकाव्य का सृजन किया। अन्य विद्वानों एवं कवियों के सहयोग ने संस्कृत साहित्य के हासकाल में भी, चम्पू काव्यों के द्वारा उसकी समृद्धि में योगदान किया।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से चम्पू काव्यों की रचना लगभग ढाई सौ वर्षों तक निरन्तर होती रही। उपलब्ध एवं परिगणित चम्पू काव्यों में से अधिकांश इसी काल में निर्मित हुए है। चम्पू काव्यों का इसे स्वर्ण युग माना जा सकता है। दो सौ से ऊपर चम्पू काव्य इसी काल में लिखे गये, जिनमें केवल परम्परा का पालन ही मात्र नहीं हुआ है। अपितु उनमें नवीनता भी है और नवीन –ष्टिकोण भी।

यात्रा प्रबन्धों एवं स्थानीय देवताओं के वर्णन द्वारा चम्पू काव्यों में नवीन विषयों का साहित्य में समावेश कर उसे जनजीवन के समीप लाने का प्रयास भी किया है।

चम्पू काव्यकार और उनके आश्रय स्थल

चम्पू काव्य के निर्माण में योगदान करने वाले कवि दो प्रकार के है –
राज्याश्रित एवं स्वतन्त्र दक्षिण के जिन राज्यों में कवियों को मुख्य रूप से आश्रय प्राप्त हुआ, वे है –

1. विजय नगर
2. तंजोर
3. ट्रावनकोर

इन राज्यों के अतिरिक्ति उत्तर भारत के औरछा राज्य एवं वर्दमान राज्य के नाम भी कतिपय चम्पू काव्यों के साथ संश्लिष्ट है। परवर्ती काल में मैसूर राज्य एवं उनके राजा से सम्बन्धित चम्पू काव्य लिखे गये।

दक्षिण भारत के संस्कृत कवियों का तीसरा आश्रय स्थल त्रिवेन्द्रम रहा। नारायण ने संख्या की -ष्टि से सर्वाधिक चम्पू काव्य लिखे हैं। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही केरली में चम्पू काव्यों की रचनाओं की बाढ सी आ गयी थी। राज्य दरबार में सम्मान प्राप्त अनेक कवियों ने चम्पू काव्यों की रचना की कार्तवीर्य प्रबन्ध, रघानन्दूरपुर चम्पू आदि राजकीय व्यक्तियों की रचनायें हैं, और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक त्रिवेन्द्रम का क्रम चलता रहा है।'

सन् 887 में लार्ड रिपन ने जब मैसूर के हिन्दू राजा को सौंपा, तब से वह भी संस्कृत के परवर्ती विद्वानों का आश्रय स्थल बना। मैसूर राज्य एवं राजा के अभ्युदय सम्बन्धी जो ऐतिहासिक चम्पू काव्य उपलब्ध हैं, वे इसी काल के बाद के हैं।

दक्षिण भारत के अन्य हिन्दू राजवंश ने भी साहित्य के सृजन तथा सांस्कृतिक विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया। चम्पू चरित काव्यों एवं यात्रा प्रबन्धों में इस प्रकार के आश्रयदाताओं का उल्लेख किया गया है।

उत्तरी भारत के कतिपय राज्यों का निर्देश भी आवश्यकतानुसार चम्पू काव्यकारों ने किया है। पद्मनाभ मिश्र का सम्बन्ध रीवां नरेश वीरभद्र देव से था। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने स्वयं दो चम्पू काव्यों की रचना की है।

आनन्दकन्द चम्पू निर्माता मिश्र का सम्बन्ध ओरछा नरेश वीर सिंह देव से था सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में उत्तर के शेष हिन्दू राजाओं ने भाषा कवियों को अधिक प्रोत्साहित किया। उत्तरी भारत के संस्कृत कवियों एवं विद्वानों ने चम्पू काव्य निर्माण की ओर कम ध्यान दिया।

इस प्रकार चम्पू काव्य की धारा में राजा, महाराजाओं ने पूर्ण योगदान दिया।

चम्पू काव्यकारों के मुख्य स्थल

चम्पू कवियों का एक बहुत बडा वर्ग विविध मठों एवं मन्दिरों से सम्बन्धित है। कांची श्रीरंग, वेंकटेश, मीनाक्षी एलोरा का कैलाश मन्दिर आदि न केवल चम्पू काव्य के वर्ण्य विषय बने हैं, अपितु इन मठों से सम्बन्धित कवियों ने भी अनेक चम्पू काव्यों की रचना की है।

इस मन्दिरों पर जो पौराणिक गाथायें उत्कीर्ण है पुराणो से वे ही कथायें, चम्पू काव्यों के लिये अधिक गृहदीत हुई हैं।

उदाहरण के लिये 'राष्ट्रकूट' राजा कृष्ण द्वारा निर्मित एलोरा के कैलाश मन्दिर में बयालीस पौराणिक गाथायें उत्कीर्ण है इनमें नृसिंहावतार, शिव-पार्वती का विवाह आदि की कथायें चम्पू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, इन पर कई चम्पू काव्य लिखे गये हैं।'

सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने कई चम्पू काव्यों की रचना की। इनमें रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी कविकर्णपूर, रघुनाथदास आदि का उल्लेख किया जा चुका है।

चम्पू काव्यों की परम्परा में दो बातें उल्लेखनीय हैं गुरू-शिष्य परम्परा ने एक ओर चम्पू काव्यों को समृद्ध किया है, तो दूसरी ओर वंश परम्परा में उत्तरोत्तर चम्पू काव्यों की रचना होती गई है। गुरू-शिष्य परम्परा में रामानुजानुयायियों का योगदान महत्वपूर्ण है।

चम्पू काव्यों का उत्थान एवं ह्रासकाल

1. कालक्रम की दृष्टि से दसवीं शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक सीमित चम्पू काव्यों की रचना हुई, परन्तु काव्य सौष्ठव की दृष्टि से ये चम्पू अधिक उत्कृष्ट हैं।

2. चम्पू काव्यों का द्वितीय उत्थान काल सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व चरण में माना जा सकता है।

3. इसके बाद का काल चम्पू काव्यों के ह्रास का काल है। द्वितीय उत्थानकाल के प्रेरणास्त्रोत विजय नगर का राज्य दरबार एवं श्रीरंग का मठ रहा हैं। ह्रासकाल में मैसूर एवं त्रिवेन्द्रम चम्पू काव्यों के निर्माण के केन्द्र रहे हैं।

चम्पू काव्य की विशेषतायें

1. चम्पू काव्य गद्य-पद्यमय होता है ।
2. वह उच्छवासों में विभाजित होता है ।
3. उसमें उक्ति-प्रत्युक्ति नहीं होती है ।
4. वह विष्कम्भ शून्य होता है ।

संस्कृत साहित्य की अन्य विधाएँ जब शुष्कप्राय हो रही थी तब चम्पूकाव्यों ने संस्कृत-साहित्य की सरल धारा को गतिशील बनाए रखा। संस्कृत-कवियों की उस क्षमता का प्रदर्शन भी किया गया, जो युग-भावना और युग-दर्शन की अभिव्यक्ति देने में सदा समर्थ रही है। रामायण के आधार पर भोज ने 11वीं शती ई. में चम्पू रामायण की और अनन्त भट्ट ने चम्पू भारतम विशाल ग्रन्थ का निर्माण किया। 11वीं शती में ही भगवत चम्पू की रचना हुई, इसके रचयिता की उपाधि अभिनव कालिदास को दी कवि का नाम अज्ञात है। रामायण एवं महाभारत के आधार पर और भी बहुत से चम्पू काव्य लिखे गये पुराणों के आधार पर भी बहुत से च/द्यपू ग्रन्थ बने। 'नृसिंह चम्पू' नामक दो चम्पू ग्रन्थ मिलते है जो कि केशवभट्ट की रचना है इस प्रकार विविध विषयों पर लिखे गये अब तक 74 चम्पू काव्य प्रकाशित उपलब्ध है शेष अप्रकाशित ही है।